

योग: स्वयं की ओर — शास्त्रों के आलोक में

लेखक: Aadisatv

Chapter 1 — योग क्या है — और क्या नहीं है

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥

— स्रोत: योगसूत्र १.२

अर्थ: योग चित्त की वृत्तियों का निरोध है ।

योग की सारी भूमि इस एक सूत्र में आ जाती है, पर यदि इसे जल्दी समझ लिया जाए तो योग खो जाता है । चित्त केवल मन नहीं है । चित्त वह पूरा आंतरिक आकाश है जिसमें स्मृति उठती है, कल्पना उठती है, भय उठता है, प्रेम उठता है, इच्छा उठती है, पहचान उठती है । वृत्ति उस आकाश की तरंग है । और निरोध दमन नहीं है । दमन में मन मन से लड़ता है । निरोध में चित्त अपने ही स्रोत में विश्राम करता है । जैसे झील को शांत करने के लिए पानी को मारना नहीं पड़ता, हवा रुक जाए तो तरंगें अपने आप शांत हो जाती हैं । योग वही अवस्था है जहाँ आत्मा अपने ही प्रतिबिंबों के पीछे दौड़ना बंद कर देती है ।

आज योग का अर्थ शरीर को मोड़ना, आसन करना, लचीला होना, स्वस्थ दिखना और ऊर्जा से भरा रहना समझ लिया गया है । यह योग का एक अत्यंत छोटा बाहरी अंश हो सकता है, पर योग का हृदय नहीं । शरीर योग का द्वार हो सकता है, पर योग शरीर तक सीमित नहीं । प्राण योग का क्षेत्र हो सकता है, पर योग प्राण-शक्ति का प्रदर्शन नहीं । ध्यान योग का अंग है, पर योग केवल आँख बंद करके बैठना नहीं । योग मनुष्य के पूरे अस्तित्व का प्रश्न है — मैं कौन हूँ, मैं क्यों बंधा हूँ, और जो मुझे देख रहा है, उसका स्वरूप क्या है?

आधुनिक संसार ने योग को उपयोगिता में बदल दिया है । कोई तनाव घटाने के लिए योग करता है, कोई शरीर सुंदर रखने के लिए, कोई स्वास्थ्य के लिए, कोई मानसिक संतुलन के लिए । इन सबका अपना स्थान है, पर पतंजलि का योग इनसे बहुत आगे है । पतंजलि मन को आराम देने नहीं आए; वे मन की जड़ देखने आए । वे शरीर सुधारने नहीं आए; वे पहचान सुधारने आए । वे जीवन को अधिक सफल बनाने की पद्धति नहीं देते; वे उस देखने वाले की ओर ले जाते हैं जो सफलता और असफलता दोनों का साक्षी है ।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥

— स्रोत: योगसूत्र १.३

अर्थ: तब द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित होता है ।

“तब” कब? जब चित्त की वृत्तियाँ शांत हो जाती हैं । द्रष्टा तब नया नहीं बनता, वह केवल अपने स्थान पर लौटता है । जैसे बादल हटते हैं तो आकाश पैदा नहीं होता, केवल दिखाई देता है । द्रष्टा हमेशा था, पर वृत्तियों के साथ तादात्म्य ने उसे छिपा दिया था । योग का अर्थ द्रष्टा को बनाना नहीं; द्रष्टा को द्रष्टव्य से अलग पहचानना है । यह पहचान जितनी सूक्ष्म होती है, उतना ही स्पष्ट होता है कि तुम्हारा दुःख घटनाओं से कम और घटनाओं से बनी हुई गलत पहचान से अधिक है ।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥

— स्रोत: योगसूत्र १.४

अर्थ: अन्य समय में द्रष्टा वृत्तियों के साथ सारूप्य कर लेता है ।

यही मनुष्य की साधारण अवस्था है । क्रोध आया तो “मैं क्रोधित हूँ ।” भय आया तो “मैं भयभीत हूँ ।” इच्छा आई तो “मैं इच्छुक हूँ ।” स्मृति आई तो “मैं वही हूँ जो मेरे साथ हुआ ।” चित्त की प्रत्येक लहर द्रष्टा पर अपना रंग चढ़ा देती है । योग इस रंग को मिटाने की हिंसक कोशिश नहीं करता । वह केवल यह दिखाता है कि रंग दिखाई दे रहा है — अतः तुम रंग नहीं हो । जो देखा जा रहा है, वह तुम नहीं हो । यह सूक्ष्म विवेक ही योग की प्रारंभिक ज्योति है ।

श्वेताश्वतर उपनिषद योग की भूमि को और गहरी बनाता है । वहाँ ऋषि अभ्यास की बात करने से पहले प्रश्न उठाते हैं । वे अस्तित्व के मूल कारण को पूछते हैं । योग तकनीक से नहीं, प्रश्न से शुरू होता है ।

ब्रह्मवादिनो वदन्ति ।

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।

अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥

— स्रोतः श्वेताश्वतर उपनिषद् १.१

अर्थः ब्रह्म को जानने वाले पूछते हैं — कारण क्या है? ब्रह्म क्या है? हम कहाँ से उत्पन्न हुए, किसमें स्थित हैं, और किसके अधीन सुख-दुःख में चलते हैं?

यह प्रश्न योग की मूल अग्नि है । योग केवल यह नहीं पूछता कि शरीर कैसे स्वस्थ हो, मन कैसे शांत हो, जीवन कैसे सफल हो । योग पूछता है — मैं किसके अधीन हूँ? यह जन्म, यह दुःख, यह सुख, यह मृत्यु, यह चाह, यह भय — किस आधार पर चल रहा है? जब यह प्रश्न पूरे अस्तित्व से उठता है, तब मनुष्य साधक बनता है । योग व्यायाम नहीं रहता; वह मानव-जीवन की सबसे पुरानी पुकार बन जाता है ।

सांख्य के बिना योग की जड़ समझ में नहीं आती । पतंजलि का योग सांख्य की भूमि पर चलता है । सांख्य कहता है — पुरुष और प्रकृति को अलग पहचानो । पुरुष शुद्ध द्रष्टा है; प्रकृति दृश्य है — शरीर, इंद्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, गुण, सब । दुःख तब जन्मता है जब पुरुष स्वयं को प्रकृति मान लेता है । योग इस भूल को शांत करता है । इसलिए गीता भी दूसरे अध्याय में सांख्य से शुरू होती है । कृष्ण पहले अर्जुन को कर्म नहीं बताते; वे पहले उसे देखने की दृष्टि देते हैं । बिना दृष्टि के कर्म केवल प्रतिक्रिया है ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

— स्रोतः भगवद्गीता २.१६

अर्थः असत् का अस्तित्व नहीं होता और सत् का अभाव नहीं होता । तत्त्वदर्शियों ने दोनों की सीमा देख ली है ।

योग का विवेक इसी एक वाक्य में खड़ा है । जो बदल रहा है, वह अंतिम नहीं । जो अंतिम है, वह बदलता नहीं । शरीर बदलता है, मन बदलता है, भाव बदलते हैं, जीवन की भूमिकाएँ बदलती हैं । पर जो इन सबको जान रहा है, उसमें एक अजीब निरंतरता है । योग उसी निरंतरता को पहचानने की साधना है । इस पहचान के बिना योग केवल शारीरिक अनुशासन रह जाता है । पहचान के साथ वही आसन, वही श्वास, वही मौन आत्म-यात्रा बन जाते हैं ।

योग क्या नहीं है, यह समझना भी उतना ही आवश्यक है । योग शरीर-प्रदर्शन नहीं । योग अनुभवों का संग्रह नहीं । योग चमत्कार नहीं । योग सिद्धियों की लालसा नहीं । योग पलायन नहीं । योग दुनिया से भागकर किसी निजी शांति में छिप जाना नहीं । योग ऐसा भी नहीं कि मन को जबरदस्ती चुप करा दिया जाए । पतंजलि के योग में अनुशासन है, पर हिंसा नहीं । स्पष्टता है, पर कठोरता नहीं । मौन है, पर मृत्यु नहीं । योग जीवित मनुष्य को उसकी जड़ तक ले जाता है ।

जब मनुष्य योग की ओर सच में आता है, तो वह केवल शरीर लेकर नहीं आता । वह अपने भय लेकर आता है, इच्छाएँ लेकर आता है, भ्रम लेकर आता है, स्मृतियाँ लेकर आता है । योग उन्हें दबाता नहीं; योग उन्हें देखने की क्षमता देता है । धीरे-धीरे साधक देखता है कि मन की हर गतिविधि स्वयं को बचाने की कोशिश है । और फिर एक दिन यह देखना इतना शांत हो जाता है कि चित्त अपनी ही थकान से विश्राम में उतरने लगता है ।

योग वही प्राचीन प्रश्न है जिसे मनुष्य पूरे शरीर, पूरे मन, पूरे प्राण, और अंततः पूरे मौन से पूछता है । यह प्रश्न है — जो बदल रहा है, क्या वही मैं हूँ? और यदि नहीं, तो मैं कौन हूँ?

अभ्यास

आज किसी आसन या विशेष ध्यान की आवश्यकता नहीं ।

सिर्फ बैठो और देखो — अभी चित्त में कौन-सी वृत्ति प्रमुख है ।

उसे बदलो मत, रोकने की कोशिश मत करो ।

केवल इतना पहचानो — यह दिखाई दे रही है ।

जो देख रहा है, उसके पास लौटना ही योग की शुरुआत है ।

Chapter 2 — सांख्य: वो नक्शा जिस पर योग चलता है

योग यात्रा है, पर सांख्य उसका नक्शा है। बिना नक्शे के साधक अक्सर अनुभवों में भटक जाता है। कभी वह शरीर को आत्मा मान लेता है, कभी भावना को सत्य, कभी विचार को ज्ञान, कभी शांति को मुक्ति। सांख्य इन सबको क्रम से रखता है और कहता है — देखो, जो कुछ बदलता है वह प्रकृति है; जो देखता है वह पुरुष है। यह भेद सूखा दर्शन नहीं, दुःख से मुक्त होने की गहरी चिकित्सा है।

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ ।

दृष्टे सापार्था चैत्रैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥

— स्रोत: सांख्यकारिका १

अर्थ: तीन प्रकार के दुःखों के आघात से उन्हें दूर करने वाले कारण की जिज्ञासा उठती है; प्रत्यक्ष उपाय पर्याप्त नहीं, क्योंकि वे न निश्चित हैं न पूर्ण।

सांख्य दुःख से शुरू करता है, पर निराशा से नहीं। शरीर का दुःख है, मन का दुःख है, संसार का दुःख है। बाहरी उपाय कुछ समय राहत देते हैं, पर दुःख की जड़ नहीं काटते। सांख्य कहता है — जब तक तुम स्वयं को प्रकृति की गति मान रहे हो, दुःख लौटता रहेगा। इलाज बाहर नहीं, पहचान में है। योग इस पहचान को अनुभव में उतारता है।

सांख्य के पच्चीस तत्त्व मनुष्य की पूरी रचना को खोलते हैं। मूल प्रकृति, महत् या बुद्धि, अहंकार, मन, इंद्रियाँ, तन्मात्राएँ, महाभूत, और अंत में पुरुष — यह केवल दार्शनिक सूची नहीं। यह बताता है कि तुम्हारे भीतर जो “मैं” बोलता है, वह एक बनी हुई संरचना है। बुद्धि निर्णय करती है, अहंकार कहता है “मैं”, मन विकल्पों में दौड़ता है, इंद्रियाँ विषयों की ओर भागती हैं। पुरुष इनमें से कोई नहीं; वह इन सबका साक्षी है।

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।

व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥

— स्रोत: सांख्यकारिका ११

अर्थ: व्यक्त और प्रधान त्रिगुणात्मक, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन और उत्पादक हैं; पुरुष इनसे विपरीत है।

यहाँ प्रकृति का पूरा स्वभाव खुलता है। वह तीन गुणों से बनी है — तमस्, रजस्, सत्त्व। तमस् जड़ता है, रजस् गति है, सत्त्व स्पष्टता है। हर क्षण में ये गुण काम कर रहे हैं। आलस्य, भारीपन, उदासी — तमस्। बेचैनी, इच्छा, अधीरता — रजस्। शांति, पारदर्शिता, संतुलन — सत्त्व। योग गुणों को शत्रु नहीं मानता; वह उन्हें देखता है। देखने पर वे तुम्हें बाँधते नहीं। अदेखे रहने पर वे तुम्हारी नियति बन जाते हैं।

गीता के दूसरे अध्याय का नाम ही सांख्य योग है। कृष्ण अर्जुन को युद्ध के बीच पहले कर्म नहीं, तत्त्वदृष्टि देते हैं। अर्जुन का दुःख केवल संबंधों का दुःख नहीं; वह पहचान का संकट है। वह शरीरों को अंतिम मान रहा है, संबंधों को अंतिम मान रहा है, मृत्यु को अंतिम मान रहा है। कृष्ण उसे सत् और असत् का विवेक देते हैं।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

— स्रोत: भगवद्गीता २.२८

अर्थ: प्राणी आरंभ में अव्यक्त हैं, मध्य में व्यक्त हैं और अंत में फिर अव्यक्त हो जाते हैं; फिर शोक कैसा?

यह वाक्य शोक को दबाता नहीं, उसे प्रकाश देता है। जो जन्मा है वह बदलेगा, जो प्रकट है वह अप्रकट होगा। प्रकृति का स्वभाव प्रकट होना और लौट जाना है। योग इस चक्र को रोकता नहीं; वह उस पुरुष की पहचान कराता है जो इस चक्र में वस्तु की तरह फँसा नहीं। शोक तब पवित्र हो जाता है जब वह विवेक में स्नान करता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् प्रकृति और पुरुष को माया और मायिन की भाषा में खोलता है। यह माया को केवल झूठ नहीं कहता, बल्कि वह शक्ति मानता है जिसके द्वारा अनुभव का जगत प्रकट होता है।

माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥
— स्रोतः श्वेताश्वतर उपनिषद् ४.१०

अर्थः प्रकृति को माया जानो और महेश्वर को मायिन । उसके अवयवों से यह जगत् व्याप्त है ।

यहाँ सांख्य और उपनिषद् मिलते हैं । प्रकृति दृश्य है, पुरुष द्रष्टा । पर यह भेद द्वेष के लिए नहीं, मुक्ति के लिए है । प्रकृति को समझो ताकि उससे बंधो नहीं । पुरुष को पहचानो ताकि उसकी शांति में ठहरो । माया को जानो ताकि उसमें खोओ नहीं । जो माया को जान लेता है, उसके लिए जगत् भय नहीं रह जाता; वह समझ में आने लगता है ।

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥
— स्रोतः सांख्यकारिका १९

अर्थः विपरीतता से पुरुष का साक्षीभाव, कैवल्य, उदासीनता, द्रष्टृत्व और अकर्तृत्व सिद्ध होता है ।

पुरुष करता नहीं, देखता है । यह सुनकर मन डरता है — यदि मैं कर्ता नहीं, तो जीवन कैसे चलेगा? पर सांख्य जीवन को रोकता नहीं । प्रकृति कार्य करती है । बुद्धि निर्णय करती है, शरीर चलता है, वाणी बोलती है । पर पुरुष स्वयं को इन क्रियाओं से मिलाकर बंधता है । योग इस अकर्तृत्व को अनुभव में लाता है । तब कर्म होते हैं, पर भीतर एक हल्कापन आता है । यही सांख्य की शांति है ।

सांख्य प्रश्न छोड़ता है — यदि पुरुष सदा मुक्त है, तो वह जागता कैसे है? यदि प्रकृति चल रही है, तो उससे भेद कैसे प्रत्यक्ष होगा? योग इस प्रश्न का उत्तर है । सांख्य कहता है — यह नक्शा है । योग कहता है — अब चलो । सांख्य बताता है कि बंधन कहाँ है । योग दिखाता है कि उससे मुक्त कैसे हुआ जाता है । दोनों मिलकर साधक को दर्शन से अनुभव की ओर ले जाते हैं ।

अभ्यास

दिन में तीन बार रुककर देखो — अभी कौन-सा गुण प्रमुख है ।
तमस् है, रजस् है, या सत्त्व?
कोई गुण अच्छा या बुरा मत कहो ।
केवल देखो कि वे प्रकृति की गतियाँ हैं ।
जो देख रहा है, वही पुरुष की दिशा है ।

Chapter 3 — अष्टांग योग: आठ सीढ़ियाँ, एक छत

पतंजलि ने योग को अस्पष्ट भावुकता पर नहीं छोड़ा । उन्होंने उसके अंग बताए । पर ये अंग सीढ़ियों की तरह अलग-अलग डिब्बे नहीं हैं । वे एक ही जीवित वृक्ष की शाखाएँ हैं । यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि — यह क्रम बाहर से भीतर की यात्रा है । पर भीतर पहुँचने के बाद पता चलता है कि बाहर भी उसी भीतर से प्रकाशित था ।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥
— स्रोतः योगसूत्र २.२९

अर्थः यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि — ये योग के आठ अंग हैं ।

पतंजलि पहले ही बता देते हैं कि योग केवल ध्यान नहीं । यदि जीवन की नींव असत्य, हिंसा, लोभ, असंयम और संग्रह पर है, तो ध्यान भी उसी अहंकार का नया रूप बन जाएगा । एक अस्थिर, हिंसक, छलपूर्ण मन ध्यान नहीं करता; वह ध्यान का अभिनय करता है । इसलिए यम और नियम पहले हैं । वे नैतिक आदेश मात्र नहीं, चित्त की शुद्धि का विज्ञान हैं ।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥
— स्रोतः योगसूत्र २.३०

अर्थ: अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह — यम हैं ।

व्यासभाष्य अहिंसा को अन्य यमों की जड़ मानता है । हिंसा केवल किसी को चोट पहुँचाना नहीं; मन में द्वेष रखना भी हिंसा है । स्वयं को झूठ में धकेलना भी हिंसा है । अपनी ऊर्जा को अचेतनता में फेंकना भी हिंसा है । जब अहिंसा गहरी होती है, चित्त में कोमलता आती है । सत्य तभी संभव होता है । अपरिग्रह तभी सहज होता है । योग की शुरुआत शरीर को खींचने से नहीं, जीवन को सत्य में लाने से है ।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमः ॥

— स्रोत: योगसूत्र २.३२

अर्थ: शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान — नियम हैं ।

नियम भीतर की संस्कृति है । शौच केवल बाहरी स्वच्छता नहीं; आंतरिक स्पष्टता है । संतोष आलस्य नहीं; जो है उसके प्रति एक शांत स्वीकार है । तप शरीर को सताना नहीं; ऊर्जा को बिखरने से बचाना है । स्वाध्याय केवल पुस्तक पढ़ना नहीं; स्वयं को पढ़ना है । ईश्वर-प्रणिधान भाग्य पर छोड़ना नहीं; अहंकार के वेद को नरम करना है । इन नियमों के बिना साधना शक्ति नहीं पाती ।

स्थिरसुखमासनम् ॥

— स्रोत: योगसूत्र २.४६

अर्थ: स्थिर और सुखद स्थिति आसन है ।

आज आसन को जटिलता से मापा जाता है । पतंजलि उसे स्थिरता और सहजता से मापते हैं । शरीर ऐसा हो कि ध्यान में बाधा न बने । आसन का उद्देश्य शरीर पर विजय का प्रदर्शन नहीं, शरीर को इतना संतुलित करना है कि चित्त भीतर उतर सके । हठयोग प्रदीपिका शरीर और प्राण की तैयारी को महत्व देती है, पर अंतिम उद्देश्य वहाँ भी राजयोग की ओर है । शरीर साधन है, साध्य नहीं ।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोगतिविच्छेदः प्राणायामः ॥

— स्रोत: योगसूत्र २.४९

अर्थ: आसन सिद्ध होने पर श्वास और प्रश्वास की गति का विच्छेद प्राणायाम है ।

श्वास मन का सबसे निकट मित्र है । मन बेचैन है तो श्वास बदलती है; श्वास शांत है तो मन पर प्रभाव पड़ता है । प्राणायाम श्वास को दबाना नहीं, प्राण की लय को सुनना है । हठयोग प्रदीपिका कहती है — जब वायु चलती है, चित्त चलता है; जब वायु स्थिर होती है, चित्त स्थिर होता है । पर प्राणायाम का सार नियंत्रण नहीं, सूक्ष्मता है । श्वास जितनी सजग होती है, मन उतना पारदर्शी होता है ।

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥

— स्रोत: योगसूत्र २.५४

अर्थ: इंद्रियों का विषयों से अलग होकर चित्त के स्वरूप का अनुसरण करना प्रत्याहार है ।

प्रत्याहार भागना नहीं । आँखें बंद कर लेना प्रत्याहार नहीं । प्रत्याहार तब है जब इंद्रियाँ विषयों की गुलाम नहीं रहतीं । ध्वनि आती है, पर मन तुरंत कथा नहीं बनाता । दृश्य दिखता है, पर लालसा नहीं उठती । स्पर्श होता है, पर पहचान नहीं डगमगाती । इंद्रियाँ भीतर लौटती हैं, जैसे कछुआ अंग समेटता है । यह भीतर लौटना repression नहीं, relaxation है — बाहरी पकड़ से विभ्राम ।

अष्टांग योग के बाहरी पाँच अंग भूमि तैयार करते हैं । धारणा, ध्यान, समाधि — ये भीतर के सूक्ष्म आयाम हैं । इन्हें “करना” कठिन है, क्योंकि ये घटते हैं । धारणा में चित्त एक देश पर बंधता है । ध्यान में वही प्रवाह निरंतर हो जाता है । समाधि में विषय, ध्यान और ध्यानकर्ता की सीमाएँ धुंधली हो जाती हैं । साधक तैयारी करता है; फल अपने समय पर उतरता है ।

कठ उपनिषद् इस पूरी यात्रा को रथ के रूपक में कहता है ।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
— स्रोतः कठोपनिषद् १.३.३

अर्थः आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी और मन को लगाम जानो ।

यह योग का सुंदरतम चित्र है । शरीर रथ है, इंद्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है, और आत्मा रथी । यदि मन ढीला है, इंद्रियाँ भागती हैं । यदि बुद्धि सोई है, रथ भटकता है । योग रथ को नष्ट नहीं करता; वह सारथी को जाग्रत करता है, लगाम को स्थिर करता है, घोड़ों को प्रशिक्षित करता है । अंततः रथी अपने लक्ष्य को पहचानता है ।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥
— स्रोतः कठोपनिषद् १.३.४

अर्थः इंद्रियों को घोड़े, विषयों को मार्ग कहते हैं । आत्मा जब मन और इंद्रियों से जुड़ती है, तब उसे भोक्ता कहा जाता है ।

यही अष्टांग योग की जरूरत है । जब तक मन और इंद्रियाँ अशिक्षित हैं, आत्मा स्वयं को भोक्ता मानती रहती है । जब वे संयमित और शुद्ध होती हैं, तब वही जीवन साधना बन जाता है । अष्टांग योग किसी पंथ का नियम नहीं; मनुष्य की आंतरिक व्यवस्था का विज्ञान है । जो इसे समझता है, वह जानता है कि मुक्ति अचानक नहीं, परिपक्वता का फूल है ।

अभ्यास

आज एक यम और एक नियम चुनो ।
पूरे दिन उन्हें बाहरी नियम की तरह नहीं, चित्त की दिशा की तरह देखो ।
बैठते समय शरीर को स्थिर और सहज रखो ।
श्वास को केवल महसूस करो ।
अष्टांग योग अभी से शुरू हो सकता है ।

Chapter 4 — चित्तः वो दर्पण जो खुद को भूल गया

चित्त योग का वेद है । वही समस्या भी है और वही संभावना भी । चित्त दर्पण की तरह है । यदि दर्पण पर धूल है, तो वस्तु विकृत दिखती है । यदि दर्पण अपनी ही छवियों से मोहित हो जाए, तो वह स्वयं को भूल जाता है । मनुष्य का चित्त ऐसा ही है । वह अनुभवों को प्रतिबिंबित करता है, फिर उन्हीं प्रतिबिंबों से पहचान बना लेता है । योग इस दर्पण को तोड़ता नहीं; उसे स्वच्छ करता है ।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥
— स्रोतः योगसूत्र २.३

अर्थः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश — ये पाँच क्लेश हैं ।

अविद्या मूर्खता नहीं । अविद्या गलत पहचान है । अनित्य को नित्य समझना, अशुद्ध को शुद्ध समझना, दुःख को सुख समझना, अनात्म को आत्मा समझना — यही अविद्या है । अस्मिता उसमें से उठती है — मैं यह शरीर हूँ, मैं यह मन हूँ । फिर राग आता है — जो सुख देता है उसे पकड़ो । द्वेष आता है — जो दुःख देता है उसे हटाओ । अभिनिवेश आता है — किसी भी तरह बचे रहो । यह पूरा मनोविज्ञान एक ही भूल से जन्मता है ।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥
— स्रोतः योगसूत्र २.४

अर्थः अविद्या बाकी क्लेशों का क्षेत्र है, चाहे वे सोए हुए, क्षीण, रुके हुए या प्रबल हों ।

चित्त की हर गाँठ अविद्या की मिट्टी में उगती है। यदि जड़ को न देखा जाए, शाखाएँ काटने से कुछ नहीं होता। इच्छा को दबाओगे, वह दूसरे रूप में लौटेगी। भय को दबाओगे, वह नियंत्रण की इच्छा बन जाएगा। अहंकार को सजाओगे, वह आध्यात्मिक नाम ले लेगा। योग जड़ पर जाता है। जड़ है — द्रष्टा ने स्वयं को दृश्य मान लिया। पुरुष ने प्रकृति को “मैं” कह दिया।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥

— स्रोत: योगसूत्र २.५

अर्थ: अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म में नित्य, शुचि, सुख और आत्मा की बुद्धि ही अविद्या है।

यह सूत्र मनुष्य की पूरी उलझन खोल देता है। शरीर अनित्य है, पर हम उसमें स्थायित्व खोजते हैं। संबंध बदलते हैं, पर हम उनसे अंतिम सुरक्षा चाहते हैं। मन दुःख से भरा है, पर हम उसकी इच्छाओं को सुख का द्वार मानते हैं। अनात्म को आत्मा मान लेने से ही चित्त भटकता है। योग का विवेक इस भ्रांति को बार-बार देखता है, जब तक पहचान ढीली न पड़ जाए।

योगवासिष्ठ बार-बार चित्त की अद्भुत शक्ति को दिखाता है। चित्त संसार रचता है, संसार से डरता है, फिर मुक्ति की खोज करता है। पर उसी चित्त में मुक्ति की क्षमता भी है। जब चित्त बाहरी विषयों में खोता है, वह बंधन बनता है। जब वह स्वयं को देखता है, वह मार्ग बनता है। इसलिए चित्त को शत्रु मान लेना अधूरा है। चित्त को समझना होगा, उसके ढंग को, उसके छल को, उसकी कल्पना को, उसकी थकान को।

मुंडक उपनिषद् का दो पक्षियों वाला मंत्र चित्त और पुरुष की गहरी छवि देता है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

— स्रोत: मुण्डक उपनिषद् ३.१.१

अर्थ: एक ही वृक्ष पर दो साथ-साथ रहने वाले पक्षी बैठे हैं। एक मीठा फल खाता है, दूसरा बिना खाए केवल देखता है।

एक पक्षी चित्त में उलझा जीव है — फल खाता है, सुख-दुःख में डोलता है। दूसरा साक्षी है — शांत, अछूता, देखता हुआ। वे अलग वृक्षों पर नहीं हैं। साधक को संसार छोड़कर कहीं जाना नहीं। उसी शरीर-मन के वृक्ष पर दोनों उपस्थित हैं। योग में धीरे-धीरे खाने वाला पक्षी देखने वाले पक्षी की ओर देखता है। यही ध्यान का जन्म है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

— स्रोत: मुण्डक उपनिषद् ३.१.२

अर्थ: उसी वृक्ष में डूबा हुआ जीव असहाय होकर शोक करता है। जब वह दूसरे ईश्वररूप को और उसकी महिमा देखता है, तब शोक से मुक्त होता है।

शोक का अंत फल बदलने से नहीं, दृष्टि बदलने से होता है। जीव फल बदलता रहता है — यह संबंध, वह सफलता, यह सुख, वह अनुभव। पर शोक लौटता है। जब वह साक्षी को देखता है, तब पहली बार दिशा बदलती है। कृष्णमूर्ति ने ध्यान को concentration नहीं, attention कहा। concentration में मन स्वयं को किसी बिंदु पर बांधता है। attention में मन स्वयं को पूरा देखता है। यही देखने की अग्नि चित्त को साफ करती है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥

— स्रोत: योगसूत्र १.३

अर्थ: तब द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित होता है।

यह योग की चुप क्रांति है। कोई बड़ा अनुभव आवश्यक नहीं। कोई प्रकाश, कोई दृश्य, कोई सिद्धि आवश्यक नहीं। द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थिर हो जाए — यही योग है। चित्त शांत दर्पण हो जाता है। फिर संसार दिखता है, पर बाँधता नहीं। विचार उठते हैं, पर पहचान नहीं बनते। अनुभव आते हैं, पर द्रष्टा उनमें खोता नहीं। यह मुक्ति दूर की नहीं, देखने की परिपक्वता की है।

अभ्यास

आज जब कोई तीव्र भावना उठे, तुरंत प्रतिक्रिया मत दो ।
पहले उसे शरीर में महसूस करो ।
फिर पूछो — यह किस कहानी से जुड़ी है?
फिर देखो — इसे जानने वाला क्या स्वयं इससे बदल गया?
यही चित्त से पुरुष की ओर पहला मोड़ है ।

Chapter 5 — ध्यान: जब करने वाला नहीं रहता

ध्यान आधुनिक आध्यात्मिकता का सबसे अधिक बोला गया और सबसे कम समझा गया शब्द है । बहुत लोग आँख बंद करके बैठने को ध्यान समझते हैं । कुछ लोग विचार रोकने को ध्यान मानते हैं । कुछ किसी कल्पना, दृश्य या अनुभव में डूबने को । पर पतंजलि ध्यान को अत्यंत सूक्ष्म और स्पष्ट रूप से बताते हैं । ध्यान वहाँ है जहाँ चेतना का प्रवाह निरंतर हो जाता है, जहाँ बीच में “मैं ध्यान कर रहा हूँ” की टूटन नहीं रहती ।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥

— स्रोत: योगसूत्र ३.२

अर्थ: वहाँ प्रत्यय की एकतानता ध्यान है ।

धारणा में चित्त एक बिंदु पर रखा जाता है । ध्यान में वही रखा जाना प्रवाह बन जाता है । जैसे तेल की धार टूटती नहीं, वैसे ही चेतना का प्रवाह वस्तु की ओर चलता है । पर यह जबरदस्ती नहीं । प्रयत्न से धारणा हो सकती है, ध्यान में प्रयत्न सूक्ष्म होता जाता है । जहाँ करने वाला बहुत जोर लगा रहा है, वहाँ अभी ध्यान नहीं, तैयारी है । ध्यान तब आता है जब चित्त में पर्याप्त शुद्धता, स्थिरता और सरलता हो ।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥

— स्रोत: योगसूत्र ३.१

अर्थ: चित्त को किसी देश में बाँधना धारणा है ।

धारणा ध्यान से पहले की भूमि है । साधक मंत्र, श्वास, रूप, बिंदु, हृदय, या किसी सूक्ष्म भाव पर चित्त को टिकाता है । बार-बार हटता है, बार-बार लौटता है । यह लौटना ही अभ्यास है । पर यदि साधक इस लौटने को युद्ध बना दे, तो मन थकता है । यदि वह प्रेम से लौटे, तो मन सीखता है । धीरे-धीरे चित्त वस्तु से परिचित होता है और उस परिचय में स्थिरता आती है ।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥

— स्रोत: योगसूत्र ३.३

अर्थ: वही ध्यान जब केवल अर्थ का प्रकाश रह जाए और स्वरूप मानो शून्य हो जाए, समाधि है ।

समाधि कोई नाटकीय बेहोशी नहीं । यह चेतना की अत्यंत सूक्ष्म पारदर्शिता है । ध्यानकर्ता का रूप मंद हो जाता है, विषय का प्रकाश बचता है । फिर और गहरा होने पर विषय भी अपने मूल में पिघल सकता है । पर साधक को अनुभवों के नामों में जल्दी नहीं करनी चाहिए । समाधि की कल्पना भी बाधा बन सकती है । साधना का काम है भूमि को शुद्ध करना; फल को पकड़ना नहीं ।

गीता का छठा अध्याय ध्यान का गहन शास्त्र है । कृष्ण ध्यान को जीवन से काटकर नहीं बताते । वे आहार, विहार, निद्रा, जागरण, आसन, स्थान, मन, आत्मा — सबको साथ लाते हैं । ध्यान केवल बैठने की घटना नहीं; जीवन की लय से जुड़ा है ।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥

— स्रोत: भगवद्गीता ६.१८

अर्थ: जब संयमित चित्त आत्मा में ही स्थित हो जाता है और सब कामनाओं से निःस्पृह हो जाता है, तब वह युक्त कहा जाता है ।

युक्त का अर्थ जुड़ा हुआ है — पर किससे? आत्मा से । ध्यान में मन किसी बाहरी वस्तु को छोड़कर अपने स्रोत में टिकता है । कामनाओं का अभाव repression नहीं । जब चित्त आत्मा की गहराई छूता है, तब बाहरी इच्छाओं की तीव्रता स्वाभाविक रूप से घटती है । तृप्त मन अधिक नहीं मांगता । ध्यान मन को खाली नहीं करता; वह उसे उसके मूल रस से भर देता है ।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

— स्रोत: भगवद्गीता ६.१७

अर्थ: जिसका आहार-विहार, कर्म, निद्रा और जागरण संतुलित है, उसका योग दुःख का नाश करता है ।

कृष्ण का ध्यान व्यावहारिक है । असंतुलित जीवन में गहरा ध्यान कठिन है । बहुत अधिक खाना, बहुत कम खाना; बहुत सोना, बहुत जागना; अति-प्रयास, अति-शिथिलता — ये सब चित्त को अस्थिर करते हैं । योग संतुलन की बुद्धि है । शरीर और मन को इतना सामंजस्य चाहिए कि वे आत्मा की ओर मुड़ सकें । टी.के.वी. देसिकाचार और बी.के.एस. अयंगर ने भी पतंजलि की साधना को इसी व्यावहारिकता में रखा — योग जीवन के भीतर उतरता है ।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

— स्रोत: भगवद्गीता ६.२६

अर्थ: चंचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ भटके वहाँ-वहाँ से उसे नियंत्रित कर आत्मा में ही लाना चाहिए ।

यहाँ नियंत्रण कठोर दमन नहीं । मन भटकेगा; उसकी पुरानी आदत है । साधक उसे दंड देकर नहीं, स्मरण देकर लौटाता है । हर लौटना ध्यान की माला का एक मोती है । श्री अरविंद ने साधारण thinking और yogic concentration में भेद किया — साधारण मन विचारों में घूमता है; योगिक ध्यान चेतना को उसके स्रोत की ओर वेदित करता है । यह वेदितता तंग नहीं, व्यापक होती है ।

श्वेताश्वतर उपनिषद् योग के फलस्वरूप कुछ संकेत बताता है, पर उन्हें लक्ष्य नहीं बनाता ।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादः स्वरसौष्टवं च ।

गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥

— स्रोत: श्वेताश्वतर उपनिषद् २.१३

अर्थ: शरीर में हल्कापन, स्वास्थ्य, अलोलुपता, वर्ण की प्रसन्नता, स्वर की मधुरता, शुभ गंध और मल-मूत्र की अल्पता — ये योग की प्रारंभिक प्रवृत्तियाँ कही गई हैं ।

ये संकेत हैं, साध्य नहीं । यदि साधक इन्हें पकड़ ले, तो योग फिर शरीर में अटक जाएगा । जब चित्त अपने संघर्ष से थोड़ा मुक्त होता है, शरीर भी बदलता है, प्राण भी संतुलित होता है । पर योग का लक्ष्य स्वास्थ्य नहीं; स्वास्थ्य साधना का सहायक फल हो सकता है । ध्यान का लक्ष्य अनुभव नहीं; अनुभव उसके मार्ग के फूल हो सकते हैं ।

ध्यान की सबसे बड़ी विडंबना यही है — जो ध्यान करना चाहता है, वही बीच में है । “मैं ध्यान करूँगा, मैं शांत होऊँगा, मुझे अनुभव चाहिए” — यह वही चित्त है जो स्वयं को साधक कह रहा है । ध्यान में धीरे-धीरे यह करने वाला पारदर्शी होता है । तब बैठना बचता है, श्वास बचती है, जागरूकता बचती है । और कहीं गहराई में, ध्यान अपने आप घटता है ।

अभ्यास

आज ध्यान करने की कोशिश थोड़ी कम करो ।

एक सरल वस्तु चुनो — श्वास, मंत्र या हृदय की अनुभूति ।

मन हटे तो कोमलता से लौटाओ ।

हर लौटने में असफलता नहीं, अभ्यास देखो ।

जहाँ करने वाला नरम पड़ता है, ध्यान वहीं आता है ।

Chapter 6 — कर्म योग और ज्ञान योग: दो राहें, एक मंज़िल

सभी साधक गुफा में नहीं बैठ सकते, और बैठना भी पर्याप्त नहीं। जीवन संबंधों, कर्मों, निर्णयों, संघर्षों और जिम्मेदारियों से बना है। यदि योग जीवन में नहीं उतरता, तो वह अधूरा रहता है। गीता का कर्मयोग इसी कारण इतना गहरा है। कृष्ण अर्जुन को युद्धभूमि में योग सिखाते हैं। इसका अर्थ है — योग जीवन के बीच में संभव है, पलायन में ही नहीं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
— स्रोत: भगवद्गीता २.४७

अर्थ: तेरा अधिकार कर्म में है, फल में कभी नहीं। तू कर्मफल का हेतु मत बन, और अकर्म में भी आसक्त मत हो।

इस श्लोक को अक्सर केवल “फल की चिंता मत करो” समझा जाता है। पर गहराई में यह कर्ता पर प्रहार है। फल से आसक्ति इसलिए है क्योंकि “मैं कर्ता हूँ” का भाव है। यदि कर्म प्रकृति की गति में हो रहा है, यदि बुद्धि धर्म से संचालित है, यदि अहंकार बीच से ढीला है, तो फल का बोझ कम हो जाता है। कर्मयोग कर्म छोड़ना नहीं; कर्ता की कठोरता छोड़ना है।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥
— स्रोत: भगवद्गीता ३.३०

अर्थ: सब कर्म मुझमें अर्पित करके अध्यात्म-चित्त होकर, आशा और ममता से रहित, ज्वररहित होकर कर्म करो।

“विगतज्वरः” — यह शब्द अत्यंत सुंदर है। कर्म करो, पर भीतर ज्वर न हो। अपेक्षा का ज्वर, भय का ज्वर, सफलता का ज्वर, असफलता का ज्वर, मान का ज्वर। कर्मयोग जीवन को निष्क्रिय नहीं करता; वह उसे ज्वर से मुक्त करता है। तब कर्म अधिक स्पष्ट, अधिक शांत और अधिक शुद्ध होता है। फल की चिंता घटने पर कर्म की गुणवत्ता घटती नहीं, बढ़ती है।

ज्ञानयोग दूसरी दिशा से आता है। वह पूछता है — मैं कौन हूँ? क्या मैं कर्ता हूँ? क्या मैं शरीर हूँ? क्या मैं मन हूँ? विवेकचूडामणि विवेक और वैराग्य को जागरण की अनिवार्य भूमि मानता है।

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ॥
— स्रोत: विवेकचूडामणि ३

अर्थ: तीन चीजें दुर्लभ हैं और देवकृपा से मिलती हैं — मनुष्य जन्म, मुक्ति की तीव्र इच्छा और महापुरुष का संग।

ज्ञानयोग बौद्धिक खेल नहीं। मुक्ति की इच्छा बिना ज्ञान शुष्क रहता है। महापुरुष का संग बिना विवेक अहंकार बन सकता है। मनुष्य-जन्म का अर्थ केवल जैविक शरीर नहीं; यह आत्म-परीक्षण की क्षमता है। विवेक कहता है — नित्य और अनित्य को अलग करो। वैराग्य कहता है — अनित्य को पकड़कर स्वयं को मत खोओ। ये दोनों पंख हैं।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥
— स्रोत: भगवद्गीता ४.३८

अर्थ: इस जगत में ज्ञान के समान पवित्र कुछ नहीं। योगसिद्ध व्यक्ति समय आने पर उसे आत्मा में पाता है।

ज्ञान बाहर से चिपकाया नहीं जाता। वह आत्मा में पाया जाता है। शास्त्र सुनना आरंभ है, विचार करना शोधन है, ध्यान में देखना परिपक्वता है। ज्ञान का अर्थ जानकारी नहीं; पहचान है। जब ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की गति शांत होती है, तब वह पवित्रता आती है जिसे गीता ज्ञान कहती है। यह पवित्रता मन को हल्का करती है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥
— स्रोतः भगवद्गीता ४.१८

अर्थ: जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान, युक्त और सब कर्म करने वाला है ।

यह गीता का अद्भुत संगम है । बाहर कर्म है, भीतर अकर्ता । बाहर मौन बैठना है, भीतर मन कर्मरत हो सकता है । कर्मयोग और ज्ञानयोग यहाँ मिल जाते हैं । कर्मयोग दर्पण को साफ करता है; ज्ञानयोग उसमें देखता है और पाता है कि प्रतिबिंब के पीछे द्रष्टा है । रामण महर्षि ने आत्म-विचार को सर्वोच्च योग कहा — “मैं कौन हूँ?” यह प्रश्न निष्क्रिय नहीं; यह ध्यान की सबसे तीव्र क्रिया है, क्योंकि यह ध्यान को स्रोत की ओर मोड़ देता है ।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥
— स्रोतः भगवद्गीता २.५२

अर्थ: जब तेरी बुद्धि मोह के कीचड़ को पार कर जाएगी, तब तू सुने हुए और सुनने योग्य विषयों से वैराग्य को प्राप्त होगा ।

ज्ञान का फल अधिक जानकारी नहीं, मौन है । बहुत सुनना आवश्यक हो सकता है, पर अंत में सुनना भी शांत होता है । कर्म शुद्ध होकर अर्पण बनता है । ज्ञान परिपक्व होकर मौन बनता है । दोनों का फल एक ही है — अहंकार की पकड़ ढीली पड़ती है और द्रष्टा अपने स्वरूप की ओर लौटता है ।

अभ्यास

आज कोई साधारण कर्म चुनो — भोजन बनाना, चलना, लिखना या बात करना ।
उसे पूर्ण ध्यान से करो ।
कर्म के बीच बार-बार देखो — क्या मैं फल की कहानी बना रहा हूँ?
फिर पूछो — कर्ता कौन है?
कर्मयोग और ज्ञानयोग यहीं मिलते हैं ।

Chapter 7 — कैवल्य: अकेलापन नहीं, परिपूर्णता

पतंजलि का अंतिम शब्द है — कैवल्य । इसे अक्सर अकेलापन या अलगाव समझ लिया जाता है । पर कैवल्य का अर्थ निराश एकांत नहीं । यह पुरुष की पूर्ण स्व-स्थिति है । गुण अपना काम पूरा करके लौट जाते हैं । प्रकृति ने पुरुष को अनुभव, भोग और अंततः विवेक दिया । जब विवेक पूर्ण हुआ, प्रकृति का उद्देश्य पूरा हुआ । तब पुरुष अपने में स्थित है — न बंधा हुआ, न भागा हुआ, न प्राप्त करने को कुछ शेष ।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं ।
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥
— स्रोतः योगसूत्र ४.३४

अर्थ: पुरुषार्थ से शून्य हुए गुणों का अपने कारण में लौट जाना कैवल्य है; या चिति-शक्ति की अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा है ।

यह योगसूत्र का अंतिम पुष्प है । गुणों ने अपना कार्य कर लिया । तमस, रजस, सत्त्व — सबने अनुभव दिया, परिपक्वता दी, विवेक दिया । अब पुरुष को उनसे कुछ लेना नहीं । यह अनुभवों का अंत नहीं; उनसे पहचान का अंत है । चिति-शक्ति अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है । यह कोई नई अवस्था नहीं जो आई और जाएगी । यह उस सत्य की पहचान है जो हमेशा था ।

कैवल्य का अर्थ संसार का नाश नहीं । शरीर चल सकता है, मन व्यवहार कर सकता है, कर्म हो सकते हैं । पर भीतर पुरुष अब प्रकृति की लहरों को “मैं” नहीं कहता । योगवासिष्ठ ऐसे जीवन्मुक्त को जली हुई रस्सी की तरह देखता है — रूप रस्सी जैसा है, पर बाँधने की शक्ति नहीं बची । यही पूर्णता है । व्यक्तित्व दिख सकता है, पर उसकी पकड़ समाप्त है ।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥
— स्रोतः कठोपनिषद् १.२.२०

अर्थः आत्मा अणु से भी सूक्ष्म और महान से भी महान है, प्राणी की गुहा में स्थित है । निष्काम और शोक-रहित पुरुष उसकी महिमा को देखता है ।

आत्मा छोटी भी नहीं, बड़ी भी नहीं; वह माप से परे है । वह हृदय-गुहा में है, पर स्थान से बंधा नहीं । शोक-रहित वही देखता है जो कामना की धुंध से मुक्त है । कैवल्य में साधक कुछ विशाल अनुभव करके महान नहीं होता; वह मापने वाला मन छोड़ देता है । तभी वह देखता है कि आत्मा कभी सीमित थी ही नहीं ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
— स्रोतः कठोपनिषद् २.२.१५

अर्थः वहाँ सूर्य, चंद्र, तारे, विद्युत और अग्नि नहीं चमकते । उसी के चमकने से सब चमकता है ।

कैवल्य उस प्रकाश में विश्राम है जिसके कारण सब अनुभव प्रकाशित हैं । ध्यान का प्रकाश, ज्ञान का प्रकाश, संसार का प्रकाश — सब उसी से उधार चमकते हैं । साधक जब इस मूल प्रकाश में लौटता है, तब बाहरी प्रकाश की आवश्यकता नहीं रहती । यह आँखों से दिखने वाला प्रकाश नहीं; यह स्वयं जानने की ज्योति है । पतंजलि का द्रष्टा और उपनिषद् का आत्मा यहाँ एक ही संकेत बन जाते हैं ।

एको देवः सर्वभूतेषु गृहः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥
— स्रोतः श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.११

अर्थः एक देव सब प्राणियों में छिपा है, सर्वव्यापी, सबका अंतरात्मा, कर्माध्यक्ष, सबका अधिवास, साक्षी, चेतन, केवल और निर्गुण है ।

“केवल” यहाँ अधूरा अकेलापन नहीं, पूर्ण स्वतंत्रता है । वह सबमें है, फिर भी किसी से बंधा नहीं । वह साक्षी है, पर निष्प्राण नहीं । वह अंतरात्मा है, पर सीमित नहीं । कैवल्य इसी “केवल” में प्रतिष्ठा है । जब साधक अपने भीतर उस साक्षी-चेतना को पहचानता है, तब वह दूसरों से कटता नहीं; उल्टे सबमें उसी को देखने लगता है ।

श्वेताश्वतर उपनिषद् रुद्र की भाषा में भी इसी सर्वात्मा को गाता है । रुद्र वह है जो प्रकट भी करता है और संहार भी, जो सबको धारण करता है और सबको स्वयं में लौटा लेता है । कैवल्य में पुरुष देखता है कि जन्म और मृत्यु प्रकृति की गतियाँ हैं । जो देख रहा है वह उनसे पहले है, उनके बीच है, उनके बाद भी है । यह विचार नहीं, प्रत्यक्ष विश्राम है ।

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥
— स्रोतः योगसूत्र ४.२६

अर्थः तब चित्त विवेक की ओर झुकता है और कैवल्य की ओर प्रवाहित होता है ।

चित्त जब लंबे अभ्यास से शुद्ध होता है, तो उसकी प्रवृत्ति बदलती है । पहले वह विषयों की ओर बहता था; अब विवेक की ओर बहता है । पहले वह पकड़ता था; अब छोड़ना सहज होता है । पहले वह पहचान बनाता था; अब पहचान ढीली करता है । कैवल्य अचानक गिरने वाली वस्तु नहीं; चित्त की पूरी दिशा बदल जाती है । फिर एक दिन वह दिशा भी शांत हो जाती है ।

अथ योगानुशासनम् ॥
— स्रोतः योगसूत्र १.१

अर्थ: अब योग का अनुशासन आरंभ होता है ।

अद्भुत है कि अंतिम अध्याय में फिर पहला सूत्र लौट आता है । अब योग शुरू होता है । जब साधक समझता है कि कैवल्य कोई अनुभव नहीं, तब योग सच में शुरू होता है । जब वह देखता है कि रास्ता वृत्त था और केन्द्र हमेशा यहीं था, तब योग शुरू होता है । जब चित्त की वृत्तियाँ जीवन भर की दौड़ के बाद शांत होकर द्रष्टा को उसके स्वरूप में छोड़ देती हैं, तब योग शुरू होता है ।

यह अंत नहीं । यह वही "अथ" है — अब । अब, जब खोज थक गई । अब, जब साधना परिपक्व हुई । अब, जब द्रष्टा स्वयं को भूलना छोड़ रहा है । योग स्वयं की ओर लौटना है, और स्वयं कहीं गया नहीं था । यही कैवल्य है — अकेलापन नहीं, अपरिमित पूर्णता ।

अभ्यास

आज कुछ पाने की साधना मत करो ।

सिर्फ यह देखो कि जो कुछ आता-जाता है, वह गुणों की गति है ।

मन, शरीर, विचार, भूमिका — सबको आते-जाते देखो ।

फिर पूछो — जो देख रहा है, क्या वह भी आया-जाया?

उस अचलता में थोड़ी देर विश्राम करो ।